

August 2023

Bulletin of Sri Aurobindo
International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

अगस्त २०२३



श्रीअरविन्द आश्रम
पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन अगस्त २०२३

विषय-सूची

समता 'योग-समन्वय' में	श्रीअरविन्द	३
मोद स्मिथ के साथ श्रीमाँ का पत्र-व्यवहार		७
हमारी पहली तल्लीनता	श्रीअरविन्द	१५
श्रीअरविन्द	श्रीमाँ	१६
कर्म और साधना	श्रीअरविन्द	१८
२१ अगस्त १९५७ का वार्तालाप	'श्रीमातृवाणी' से	२०
श्रीअरविन्द के उत्तर (८९)		२३

समता

‘योग-समन्वय’ में

श्रीअरविन्द ने कहा है कि समता उनके सर्वांगीण योग की नींवों में से एक नींव है। योग-समन्वय के चार अध्यायों में उन्होंने उसकी महत्ता और अर्थ का खुलासा किया है। इस शृंखला में उनके इन्हीं अध्यायों को दिया जायेगा। बुलेटिन के इस अंक में हम “समता की पूर्णता”, भाग-४ के अध्याय ११ का पहला भाग दे रहे हैं।

समता की पूर्णता

आध्यात्मिक सिद्धि के लिए सर्वप्रथम आवश्यक साधन है पूर्ण समता। योग में हम सिद्धि शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में करते हैं उसमें इसका आशय अदिव्य अपरा प्रकृति से बाहर निकल कर दिव्य परा प्रकृति में विकसित होना है। ज्ञान की परिभाषा में इसका अर्थ है, उच्चतर सत्ता के स्वरूप को धारण करना और अत्यन्त अन्धकारमय एवं खण्डित निम्नतर सत्ता को त्याग देना अथवा अपनी अपूर्ण अवस्था को अपने वास्तविक एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व की अखण्ड ज्योतिर्मय पूर्णता में रूपान्तरित करना। भक्ति और आराधना की परिभाषा में इसका अर्थ है, अपनी प्रकृति या अपनी सत्ता के नियम के साथ, भगवान् की प्रकृति या उसकी सत्ता के नियम के साथ उत्तरोत्तर सादृश्य स्थापित करना, जिसकी हम अभीप्सा करते हैं उसके साथ एकमय होना,—क्योंकि यदि यह सादृश्य या सत्ता के नियम की यह एकता न हो तो उस परात्पर एवं विश्वगत और इस व्यक्तिगत आत्मा में एकत्व साधित नहीं हो सकता। परमोच्च दिव्य प्रकृति समता पर प्रतिष्ठित है। उसके सम्बन्ध में यह कथन सभी अवस्थाओं में सत्य है, भले हम परमोच्च सत्ता को शुद्ध एवं प्रशान्त पुरुष तथा आत्मा के रूप में देखें या विश्व-सत्ता के दिव्य स्वामी के रूप में। शुद्ध आत्मा सम और अचलायमान है, जगत् की सभी घटनाओं तथा उसके सभी सम्बन्धों का तटस्थ शान्ति के साथ अवलोकन करने वाला साक्षी है। यद्यपि वह उनसे विरक्त नहीं होता,—विरक्ति का नाम समता नहीं है, यदि आत्मा की जगत्-सत्ता के प्रति यही वृत्ति होती तो जगत् उत्पन्न ही न हो सकता, न वह अपने विकास के वृत्तों पर आगे ही बढ़ सकता,—तथापि अनासक्ति, सम दृष्टि की शान्ति, जो प्रतिक्रियाएँ बाह्य प्रकृति में फँसी आत्मा को पीड़ित करती हैं तथा जो उसे अक्षम बनाने वाली उसकी दुर्बलता हैं उनसे ऊपर होना, ये सब प्रशान्त अनन्त ब्रह्म की पवित्रता का असली सारतत्त्व हैं तथा जगत् की अनेकमुखी गति के प्रति उसकी तटस्थ स्वीकृति एवं सहायता के लिए आवश्यक अवस्थाएँ हैं। परन्तु परम

आत्मा की जो शक्ति इन गतियों को नियन्त्रित और विकसित करती है उसमें भी यही समता एक आधारभूत अवस्था है।

वस्तुओं का स्वामी उनकी प्रतिक्रियाओं से प्रभावित या विक्षुब्ध नहीं हो सकता; यदि वह प्रभावित या विक्षुब्ध हो जाये तो वह उनके अधीन है, उनका स्वामी नहीं, अपने प्रभुत्वशाली संकल्प और ज्ञान के अनुसार तथा उनके सम्बन्धों के पीछे जो कुछ विद्यमान है उसके आन्तरिक सत्य और उसकी आन्तरिक आवश्यकता के अनुसार उनका विकास करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है, बल्कि सच पूछो तो वह क्षणस्थायी आकस्मिक संयोग और दृष्टि के विषय की माँग के अनुसार कार्य करने के लिए विवश है। सभी वस्तुओं का सत्य उनकी गहराइयों की शान्ति में निहित है, उपरितल पर उनका जो परिवर्तनशील अस्थिर तरंगमय रूप दिखायी देता है उसमें नहीं। परम चिन्मय पुरुष अपने दिव्य ज्ञान, संकल्प और प्रेम के द्वारा इन गहराइयों से ही उनके विकास का सञ्चालन करता है—हमारे अज्ञान को वह विकास कितनी ही बार एक क्रूर अव्यवस्था और पथ-भ्रष्टता का रूप प्रतीत होता है—किन्तु परम पुरुष उपरितल के कोलाहल से विक्षुब्ध नहीं होता। भागवत प्रकृति हमारे अन्धान्वेषणों और आवेगों में भाग नहीं लेती; जब हम भगवान् के कोप या अनुग्रह की चर्चा करते हैं या यह कहते हैं कि भगवान् मनुष्य में दुःख झेलते हैं, तो हम एक मानवीय भाषा का प्रयोग कर रहे होते हैं जो हमारे द्वारा वर्णित गति के आन्तरिक अर्थ का अशुद्ध निरूपण करती है। जब हम स्थूलतलदर्शी मन से ऊपर उठ कर आध्यात्मिक सत्ता के शिखरों पर पहुँचते हैं तो हम भगवान् के कोप या प्रसाद के वास्तविक सत्य को कुछ-कुछ देख पाते हैं। कारण, तब हम देखते हैं कि, आत्मा की नीरव शान्ति में अथवा उसके विश्वगत कार्य-व्यापार में, भगवान् सदा ही सच्चिदानन्द हैं, अर्थात्, वे चिन्मय पुरुष की असीम सत्ता, असीम चेतना एवं स्व-प्रतिष्ठित शक्ति हैं, उसकी समस्त सत्ता में व्याप्त एक असीम आनन्द हैं। तब हम स्वयं एक समत्वपूर्ण ज्योति, शक्ति और आनन्द में निवास करने लगते हैं—वे ज्योति, शक्ति और आनन्द हमारी सचेतन सत्ता के अन्दर उन दिव्य ज्ञान, संकल्प और आनन्द का ही एक विशेष रूप होते हैं जो आत्मा और पदार्थों में विद्यमान हैं तथा उपर्युक्त असीम मूल स्रोतों से सक्रिय विराट् प्रवाहों के रूप में आते हैं। उस ज्योति, शक्ति और आनन्द के प्रभाव से हमारे अन्दर का गुप्त पुरुष एवं आत्मा मन के द्वारा प्रस्तुत जीवन-विषयक अनुभवों के विवरण के द्वैतात्मक स्वरूप को स्वीकार करती है तथा उसे सदा ही अपने पूर्ण अनुभव की पोषक सामग्री में रूपान्तरित कर देती है, और यदि इस समय भी हमारे अन्दर एक गुप्त महत्तर सत्ता न होती तो हम विश्व-शक्ति का दबाव सहन न कर सकते और न इस महत् और भयानक जगत् में जीवन धारण ही कर सकते। हमारी आत्मा और प्रकृति की पूर्ण समता एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम विक्षुब्ध और अज्ञ बाह्य चेतना से पीछे हट कर स्वर्ग के इस आन्तरिक राज्य में प्रवेश कर सकते हैं और आत्मा की महिमा, शान्ति और आनन्द के सनातन राज्यों, **राज्यं समृद्धम्**, को प्राप्त कर सकते हैं। योग का आत्म-सिद्धि प्राप्त करने का लक्ष्य हमसे जिस समत्व-साधना की माँग करता है उसका पूर्ण फल एवं समग्र

निमित्त दिव्य प्रकृति की ओर यह आत्म-उत्थान ही है।

हमारी सत्ता के सम्पूर्ण तत्त्व को उसके विक्षुब्ध मानसिकता-रूपी वर्तमान उपादान से आत्मा के तत्त्व में रूपान्तरित करने के लिए आत्मा की पूर्ण समता एवं शान्ति अनिवार्य है। यदि हम अपने वर्तमान अव्यवस्थित और अज्ञानयुक्त कर्म के स्थान पर प्रकृति की शासक और विराट् पुरुष के साथ समस्वरित मुक्त आत्मा के स्वराट् और ज्योतिर्मय कर्मों को प्रतिष्ठित करने की अभीप्सा रखते हों तब भी यह समता एवं शान्ति समान रूप से अनिवार्य है। यदि हमारे अन्दर आत्मा की समता नहीं है और हमारी प्रकृति की चालक शक्तियों में भी समता नहीं है तो दिव्य कर्म तो क्या, सर्वांगपूर्ण मानवीय कर्म भी हम नहीं कर सकते। भगवान् सबके प्रति सम हैं, अपने रचे हुए विश्व के निष्पक्ष भर्ता हैं जो सबको समत्वपूर्ण नेत्रों से देखते हैं, विकसनशील सत्ता के जिस नियम को उन्होंने अपनी सत्ता की गहराइयों में से प्रकट किया है उसे वे स्वीकृति प्रदान करते हैं, जो कुछ सहन करना आवश्यक हो उसे सहन करते हैं, जिसे दबाना आवश्यक हो उसे दबा देते हैं, जिसे उभारना आवश्यक हो उसे उभारते हैं, समस्त कारणों और परिणामों के पूर्ण और समत्वयुक्त ज्ञान के साथ तथा सभी दृग्विषयों के आध्यात्मिक और व्यावहारिक अर्थ को कार्यान्वित करते हुए, सृजन, पालन और संहार करते हैं। परमेश्वर कामना के किसी विक्षुब्ध आवेग के वश सृष्टि की रचना नहीं करते, न वे पक्षपातपूर्ण अभिरुचि-रूपी आसक्ति के द्वारा उसका धारण-पोषण करते हैं और न ही क्रोध, घृणा और वैराग्य के आवेश में आकर उसका संहार करते हैं। भगवान् बड़े और छोटे, न्यायी और अन्यायी तथा अज्ञ और विज्ञ—सबके साथ उनकी आत्मा के रूप में व्यवहार करते हैं; यह आत्मा सत्तामात्र के साथ गहरे और घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध तथा एक होने के कारण सबको उनकी प्रकृति और आवश्यकता के अनुसार पूर्ण ज्ञान एवं शक्ति के साथ तथा यथोचित प्रमाण में परिचालित करती है। पर इस सब कार्य के द्वारा वह समस्त वस्तुओं को युग-युगव्यापी विकास-चक्रों के मूल में विद्यमान अपने विशाल लक्ष्य के अनुसार सञ्चालित करती है तथा क्रमविकास में अन्तरात्मा को उसकी दृश्यमान प्रगति और प्रतिगति के द्वारा ऊपर की ओर, सदैव उच्च से उच्चतर विकास की ओर उठा ले जाती है जो विश्व में कार्य कर रही प्रेरणा का आशय है। आत्म-सिद्धि के लिए यत्नशील व्यक्ति को, जो भगवान् की इच्छाशक्ति के साथ एकता प्राप्त करना चाहता है तथा अपनी प्रकृति को दिव्य उद्देश्य का यन्त्र बनाने की चेष्टा करता है, मानव-अज्ञान के अहंकारमय और पक्षपातपूर्ण विचारों तथा प्रेरक भावों से बाहर निकल कर अपने को विशाल बनाना होगा और इस परम समता की प्रतिमूर्ति में अपने-आपको ढालना होगा।

कर्म में यह समत्वपूर्ण स्थिति पूर्णयोग के साधक के लिए विशेष रूप से आवश्यक है। सर्वप्रथम उसे उस समत्वपूर्ण अनुमति एवं समबुद्धि का विकास करना होगा जो दिव्य कर्म के नियम पर अपनी अपूर्ण इच्छाशक्ति और व्यक्तिगत अभीप्सा की उग्र माँग को थोपने की चेष्टा किये बिना उस नियम के प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया करेगी। जो व्यक्ति भगवान् के पूर्ण यन्त्रों के रूप में कार्य करना चाहते हैं उनसे जिस पहली चीज़ की माँग की जाती है वह है एक ज्ञानपूर्ण

निर्वैयक्तिकता एवं एक प्रशान्त समता, एक विश्वमयता है जो सभी वस्तुओं को भगवान्, अर्थात् 'एकं सत्' की अभिव्यक्तियों के रूप में देखती है, वस्तुओं की गतिविधि के सम्बन्ध में क्रुद्ध, क्षुब्ध एवं अधीर नहीं होती और इसके दूसरी ओर उत्तेजित, अति उत्सुक और अविवेकशील भी नहीं होती, बल्कि यह देखती है कि विधान का अनुसरण और काल के पदक्षेप का सम्मान करना आवश्यक है, पदार्थों और प्राणियों की वर्तमान अवस्था का निरीक्षण करती और उसे सहानुभूतिपूर्वक समझती है, पर उनके वर्तमान रूप के पीछे उनके आन्तरिक गूढ़ाशयों को भी देखती है और आगे की ओर उनकी दिव्य सम्भावनाओं के अनावरण पर भी दृष्टिपात करती है। परन्तु यह निर्वैयक्तिक अनुमति एक आधारमात्र है। मनुष्य एक ऐसे विकास का यन्त्र है जो आरम्भ में एक संघर्ष का छद्मवेश धारण करता है, पर अपने सतत, ज्ञानपूर्ण सामञ्जस्य-स्थापन-रूपी सत्यतर और गभीरतर अर्थ को अधिकाधिक प्रकट करता जाता है और विश्व की विराट् समस्वरता के गभीरतम सत्य और मर्म को उत्तरोत्तर अधिक प्रमाण में धारण करता जायेगा; वह सत्य एवं मर्म इस समय सामञ्जस्य और संघर्ष के मूल में प्रच्छन्न रूप से ही विद्यमान हैं। सिद्धिप्राप्त मानव-आत्मा को इस विकास की विधियों को द्रुत वेग प्रदान करने के लिए सदैव एक यन्त्र के रूप में कार्य करना होगा। इसके लिए एक दिव्य शक्ति को, जो अपने अन्तःस्थ दिव्य संकल्प की प्रभुता के साथ कार्य करती है, उसकी प्रकृति के अन्दर कुछ-न-कुछ मात्रा में अवश्य उपस्थित होना चाहिये। परन्तु वह शक्ति अपने कार्य को पूर्णतया सिद्ध कर सके, सतत स्थायी और धीर-स्थिर रूप से सम्पन्न कर सके और सच्चे अर्थ में दिव्य बन सके—इसके लिए उसे मानव-आत्मा की आध्यात्मिक समता, शान्ति, सर्वभूतों के साथ निर्वैयक्तिक और समत्वपूर्ण तदात्मता तथा सब शक्तियों की ठीक समझ के आधार पर ही अपना कार्य करना होगा। भगवान् विश्व के अगणित व्यापारों में अति महत् शक्ति के साथ कार्य करते हैं, पर अविचल एकता, स्वतन्त्रता और शान्ति की आश्रयदायिनी ज्योति और शक्ति के द्वारा ही करते हैं। सिद्धिप्राप्त आत्मा के दिव्य कर्मों का तरीका भी यही होना चाहिये। और समता ही सत्ता की वह अवस्था है जो कर्म करने की इस परिवर्तित भावना को सम्भव बनाती है।

परन्तु मानवीय पूर्णता के लिए भी उसके एक अन्यतम प्रधान तत्त्व और यहाँ तक कि उसके आवश्यक वातावरण के रूप में समता अपरिहार्य है। मानवीय पूर्णता को यदि अपने इस नाम के योग्य बनना है तो उसके लक्ष्य में आत्म-प्रभुत्व तथा परिस्थितियों पर प्रभुत्व—ये दो चीज़ें अवश्य समाविष्ट होनी चाहियें; ये (प्रभुत्व-रूप) शक्तियाँ मानव-प्रकृति को जिस बड़ी-से-बड़ी मात्रा में प्राप्त हो सकती हैं उस मात्रा में इन्हें पाने के लिए उसे प्रयत्न करना होगा। प्राचीन भाषा में कहें तो मनुष्य का आत्म-सिद्धिविषयक आवेग स्वराट् और सम्राट् बनने का ही आवेग है। परन्तु यदि वह निम्न प्रकृति के आक्रमण के अधीन हो, हर्ष और शोक के विक्षोभ के, सुख और दुःख के प्रबल स्पर्शों के, अपने भावावेशों और आवेगों के कोलाहल के, अपनी व्यक्तिगत रुचि-अरुचियों के बन्धन के, कामना और आसक्ति की दृढ़ शृंखलाओं के आवेशमूलक पक्षपात से पूर्ण व्यक्तिगत निर्णय और सम्मति की संकीर्णता के, अपने अहंकार के सैकड़ों

स्पर्शों के तथा विचार, भाव और कर्म पर उसकी अटल छाप के अधीन हो तो वह स्वराट् बन ही नहीं सकता। ये सब चीजें निम्न 'स्व' के प्रति दासता-रूप हैं, यदि मनुष्य को अपनी प्रकृति का राजा बनना हो तो उसे चाहिये कि अपने अन्दर के महत्तर 'मैं' के द्वारा निम्न 'स्व' को अपने पैरों तले रखे। इन सब चीजों पर विजय पाना आत्म-शासन (स्वराज्य) की शर्त है; पर उस विजय की भी शर्त तथा उसकी प्रक्रिया का सार है समता। इन सब चीजों से, हो सके तो, पूर्णतः मुक्त होना या कम-से-कम इनका स्वामी तथा इनसे ऊपर होना—इसी का नाम है समता। और फिर, जो अपना प्रभु नहीं है वह अपनी परिस्थितियों का प्रभु भी नहीं हो सकता। इस बाह्य प्रभुत्व के लिए जिस ज्ञान, संकल्प एवं सामञ्जस्य की जरूरत है वह आन्तरिक विजय के राज-पुरस्कार के रूप में ही प्राप्त हो सकता है। वह उस स्वराट् अन्तरात्मा एवं मन की सम्पदा है जो निष्पक्ष समता के साथ सत्य, ऋत् तथा विश्वव्यापी बृहत् का अनुसरण करती है; इन सत्य, ऋत् तथा बृहत् की भूमिका में ही यह प्रभुत्व प्राप्त हो सकता है,—हमारी अपूर्णता के सम्मुख ये जो महान् आदर्श प्रस्तुत करते हैं उसका भी स्वराट् आत्मा सदा अनुसरण करती है, पर यह उस सबको भी समझती तथा पूरा अवकाश देती है जो इनका विरोध करता तथा इनकी अभिव्यक्ति में बाधा डालता प्रतीत होता है। यह नियम हमारे वर्तमान मानव-मन के स्तरों पर भी सत्य है, जहाँ हम केवल सीमित पूर्णता ही प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु योग अपने आदर्श की सिद्धि के लिए स्वराज्य और साम्राज्य के इस लक्ष्य को अपने हाथ में लेकर इसे एक विशालतर आध्यात्मिक आधार पर स्थापित कर देता है। वहाँ यह अपनी पूर्ण शक्ति प्राप्त कर लेता है, आत्मा की दिव्यतर भूमिकाओं की ओर खुल जाता है; क्योंकि अनन्त के साथ एकत्व तथा सान्त पदार्थों पर आध्यात्मिक शक्ति की क्रिया के द्वारा ही हमारी सत्ता और प्रकृति की एक प्रकार की उच्चतम सर्वांगीण पूर्णता अपना सहज-स्वाभाविक आधार प्राप्त करती है।

CWSA खण्ड २३, पृ. ६९८-७०२

श्रीअरविन्द

मोद स्मिथ के साथ श्रीमाँ का पत्र-व्यवहार

(१)

१७ मई १९१० को अमरीका में जन्मी मोद स्मिथ ने २५ मार्च १९५३ को ४२ वर्ष की उम्र में आश्रम में प्रवेश किया। पहले उन्होंने आश्रम के पुस्तकालय में काम किया, उसके बाद 'World Union' नामक त्रैमासिक पत्रिका का कार्य-भार सँभाला। १९६५ में श्रीमाँ ने उन्हें आश्रम की पुस्तकों के भण्डार का कार्य सौंपा। इसी समय वे पत्रिका की मैनेजर भी बन गयीं। मोद आश्रम में ४८ वर्ष—मृत्यु-पर्यन्त—रहीं। ३० दिसम्बर १९९१ में ८१ वर्ष की अवस्था में उन्होंने

शरीर छोड़ा।

श्रीमाँ के साथ मोद का पत्र-व्यवहार १९५५ से १९७० के बीच हुआ।

कृपालु भगवती माँ,

आपने मुझे नम्रता तथा उद्घाटन के बारे में, मेरे अन्दर की उन चीज़ों के बारे में बतलाया था जो मुझे आपसे छिपाती हैं, विश्वास के बारे में तथा किसी काम को बस यूँ ही छोड़ देने के बारे में बहुत विस्तार से समझाया भी। लेकिन मेरे लिए धैर्यशील होना, खुशी-खुशी प्रतीक्षा करना और आप ही को साधना करने देना बड़ा ही कठिन है। फिर भी, मैं अनुभव करती हूँ कि अगर मैं कभी पूरी तरह से आपको समर्पित हो सकूँ तो मेरे अन्दर चैन, शान्ति और हर्ष का सोता फूट पड़ेगा।

आपने हाल ही में मुझसे कहा था कि मुझे आपको अपने अन्दर खोजने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जब मेरी सत्ता तैयार हो जायेगी तब आप स्वयं को अभिव्यक्त कर देंगी। आपने मुझसे कहा था कि मैं अभीप्सा भी नहीं कर सकती, क्योंकि अभीप्सा ऐसी चीज़ है जो दी जाती है। क्या ये बातें सच हैं? क्योंकि कक्षा में और आपकी पुस्तकों में भी, आपने और श्रीअरविन्द ने हमेशा कहा है कि हमें अभीप्सा करनी चाहिये।

मानसिक प्रतिलेखन में कुछ छूट गया होगा, क्योंकि जैसा यहाँ दिया गया है वह सच बिलकुल नहीं है—समस्या का कम-से-कम एक पहलू तो गायब है।

केवल अभीप्सा पर बहुत अधिक निर्भर रहने के विरोध में यह प्रतिक्रिया हुई होगी।

फिर पिछले हफ़्ते आपने कहा था, “समर्पण भी दे दिया जाता है।” मैंने पूछा था, “तब प्रतीक्षा करने के अलावा मैं और कुछ नहीं कर सकती?” और आपने उत्तर दिया था, “तुम कुछ नहीं कर सकती। सब कुछ दिया जाता है। लेकिन तुम्हें कोशिश करनी चाहिये। अभीप्सा करने, प्रार्थना करने, निवेदित करने और खुलने की कोशिश करो। समर्पण करने की कोशिश करो, यह याद रखो कि तुम्हारे प्रयासों से कुछ भी उपलब्ध न होगा। सब कुछ दिया जाता है; फिर भी तुम्हें खेल खेलना ही पड़ता है; तुम्हें प्रयास करना ही होता है।”

स्पष्ट है कि यह सब तुम्हारी इच्छा के अत्यधिक तनाव से छुटकारा पाने के लिए कहा गया था—लेकिन यह तो समस्या का बस एक पहलू है।

मेरी सहायता कीजिये माँ, मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ। मुझे वह सिखलाइये जो सीखने की मुझे ज़रूरत है। मुझे अपने प्रति खोलिये और मुझे अपने पास ले आइये।
प्रेम, भक्ति तथा हर्ष के साथ मैं स्वयं को आपके चरणों में अर्पित करती हूँ।

‘कृपा’ में अधिक मुस्कुराता हुआ विश्वास तुम्हें निश्चित रूप से जल्दी ही शान्ति तथा हर्ष की ओर ले जायेगा।

मेरे प्रेम और आशीर्वादों के साथ।

१९५५

मेरी प्रिय बच्ची,

शुरू से ही मुझे मालूम था कि तुमने अपनी सभी भौतिक चीज़ों को मुझे दे दिया था, और इस दृष्टिकोण से तुम्हारा समर्पण सम्पूर्ण था—बाक़ी सब धीरे-धीरे, चेतना के विकास के साथ-साथ आता है।

कल जो तुमने इतना सुन्दर, छोटा-सा गुलदान मुझे प्रतीक के रूप में भेंट किया उसे मैं स्वीकार करती हूँ—लेकिन मैं चाहती हूँ और आशा करती हूँ कि जिन चीज़ों का तुम उपयोग कर रही हो या जो तुम्हारे किसी काम आयेंगी उन्हें तुम रखो, क्योंकि जैसा कि तुम जानती हो, हमारे योग में हमसे यह आशा नहीं की जाती कि जीवन की आवश्यकताओं से हम अपने-आपको वञ्चित रखें।

मेरे प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

१५ जनवरी १९५६

कृपालु भगवती माँ,

क्या मैं अपने कमरे की सफ़ाई के लिए हफ़्ते में तीन या चार घण्टों के लिए नौकर की माँग कर सकती हूँ? मैं हमेशा से यही पसन्द करती हूँ कि घर में कोई नौकर न हों, लेकिन आजकल मुझे साफ़-सफ़ाई के लिए वक़्त नहीं मिलता। या फिर घर की सफ़ाई के लिए मैं पुस्तकालय के काम या व्यायाम के घण्टों से समय निकालूँ?

मुझे लगता है कि तुम्हारे घर के अन्दर नौकर का आना उपयुक्त नहीं होगा। लेकिन व्यायाम के लिए आरक्षित समय को कम करना भी बिल्कुल वाञ्छनीय नहीं है... कोई और व्यवस्था? प्रेम तथा आशीर्वाद।

२५ नवम्बर १९५६

कृपालु भगवती माँ,

मुझे विश्वास ही नहीं होता कि सर्वांगीण योग में जिस अन्धकार और कुरूपता तथा दुःख-दर्द में जो मैं प्रायः तीन साल डूबी रही, वह आवश्यक था! न मैं इस पर विश्वास करती हूँ कि मेरी सहायता करना भागवत शक्ति के परे है। बस, कहीं कोई चीज़ भयंकर रूप से ग़लत है।

हमारे पिछले साक्षात्कार में आपने कहा था कि मुझे साधना करना बन्द कर देना चाहिये।^१ आंशिक रूप से मैंने साधना बन्द कर दी है, और तब से मेरे ऊपर कोई प्रभाव भी नहीं हो रहा, तो अब मैं उन सभी चीज़ों को बन्द कर दूँगी जिन्हें मैं साधना कहती हूँ (बालकनी दर्शन के लिए जाना, कक्षाओं के तथा ध्यान के लिए जाना, अध्ययन, 'मार्चिंग', पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना, शान्त और शिथिल रहने की कोशिश करना)। बहरहाल, इन सब चीज़ों से कुछ फ़ायदा तो होता नहीं दीखता।

मैंने तो कभी तुमसे इन चीज़ों में से किसी को भी बन्द करने के लिए नहीं कहा, इसके विपरीत, ये यहाँ की जीवन-शैली के लिए अनिवार्य चीज़ें हैं, क्योंकि ये वे साधन हैं जिनके द्वारा मैं आश्रमवासियों के आन्तरिक तथा बाह्य जीवन में उनकी सहायता करने के लिए कार्य कर रही हूँ। निश्चित रूप से, जो मैंने कहा उसे समझने में तुम्हें कुछ ग़लतफ़हमी हो गयी है, और इसके विपरीत, मैं आशा करती हूँ कि अपनी निम्न प्रकृति में तुम चाहे जितने प्रतिरोध का अनुभव क्यों न करो, लेकिन इस सबके बावजूद, तुम इन सभी चीज़ों को जारी रखोगी, क्योंकि इस प्रतिरोध को जीतने का सर्वोत्तम रास्ता यही है। उदाहरण के लिए, मैं आशा कर रही हूँ कि आज शाम के 'प्लेग्राउण्ड' के ध्यान में तुम आओगी और मुझे विश्वास है कि तुम्हें इससे लाभ प्राप्त होगा।

अगर जीवन भगवान् के आनन्द के लिए लुका-छिपी का सारा खेल ही है, स्वाभाविक है कि यह जितना अधिक कठिन हो, इसमें जितना अधिक समय लगे, उतना ही महान् आनन्द प्राप्त होगा। तो खेल में मुझे बनाये रखने के लिए जितनी सहायता की ज़रूरत हो उससे अधिक किसी चीज़ की मैं प्रत्याशा ही क्यों रखूँ भला?

यह केवल कहने का एक तरीका है और इसे बहुत अधिक शाब्दिक अर्थ में नहीं लेना चाहिये।

मैं यहाँ इस विचार से नहीं आयी थी कि यह मार्ग इतना कठिन है कि एक जीवन में मेरे लिए अपने लक्ष्य को प्राप्त करना सम्भव ही न होगा। लेकिन अगर चीज़ों को इसी तरीके से चलना है तो मैं अपने-आपको उसके हवाले करने की कोशिश

^१ माँ ने इस वाक्य के नीचे लकीर खींच कर, प्रश्नचिह्न लगा दिया।

करूंगी, मुझे जो काम दिया जायेगा वह मैं करूंगी और अभीप्सा के सपने, बालक के-से विश्वास, हर्षपूर्ण आत्म-उत्सर्ग, शान्ति, प्रकाश, एकत्व तथा योग को इस अर्थ में नहीं लूँगी कि इससे मैं भगवान् की सेवा के लिए उपयुक्त यन्त्र बन सकूँ, क्योंकि यह मेरी एक मूर्ख और गलत महत्त्वाकांक्षा है जिसे मैं दूर खदेड़ दूँगी।

यह महत्त्वाकांक्षा नहीं है, और मूर्ख तो कतई, कतई नहीं है। यही है उपयुक्त अभीप्सा और उचित मनोभाव जिन्हें एक दिन चरितार्थ होना होगा।

मेरे प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

१९ जनवरी १९५७

सूरज की ओर देखो, अन्धकार की तरफ नहीं, और अन्धकार नगण्य मक्खी की तरह विलीन हो जायेगा...

प्रेम।

२३ जुलाई १९५७

माँ,

एक साल पहले आपने मुझसे कहा था कि आप चाहती हैं कि मैं 'म' से एकदम अलग हो जाऊँ, उसे मुझे धक्का देने की अनुमति न दूँ, और जो मैं ठीक समझूँ वही करूँ। अब वह चाहता है कि मैं 'आदम (Adam) और हव्वा (Eve)' नाटक की टाइपिंग करूँ जो वह तैयार कर रहा है। मुझे तो यह नाटक एकदम से अनुपयुक्त लग रहा है; कुरूपता और डरावनेपन से भरे इस नाटक में बेहतर भविष्य के लिए मानव की अभीप्सा की चिनगारी एकदम से दब कर बुझ गयी है। अब मैं इस सबसे कोई वास्ता नहीं रखना चाहती।

एकदम सही है।

लेकिन आपने मुझसे जिस असहयोग की बात कही थी, आपका मतलब इसी तरह के असहयोग से था न? वह मुझसे जो-जो काम करने के लिए कहे, सभी में मैं अपना निर्णय भला कैसे दे सकती हूँ? आखिरकार, मैं केवल एक सेक्रेटरी ही हूँ।

निश्चित रूप से तुम्हें 'म' के सामने नहीं झुकना है। तुम्हारा समर्पण केवल भगवान् के लिए होना चाहिये।

जाने से एक दिन पहले उसने मुझसे 'Food and Life' संकलन की प्रेस की सारी ज़िम्मेवारी लेने के लिए कहा। उसकी यह माँग सुन कर मैं अचम्भित रह गयी, क्योंकि करीब महीने-भर तक उसकी सेवा-सुश्रूषा, उसके खान-पान की तैयारी इत्यादि करते-करते मैं थक कर एकदम चूर हो गयी थी और मेरा बाक़ी सारा काम भी पिछड़ गया था। मैं शान्त रहने और "अपनी अन्तरात्मा के साथ एक होने" की आवश्यकता का अनुभव करना चाहती थी।

यह एकदम से ठीक बात है।

मुझे लगा कि मुझे उसे अपने ऊपर यह काम थोपने नहीं देना चाहिये था। लेकिन, वह बीमार व्यक्ति था और ऐसा कोई नहीं था जिसकी ओर वह मदद के लिए मुड़ सकता—मैं भला कैसे मना करती? मैंने रुक कर आपकी सहायता के लिए प्रार्थना की। उसके बाद 'उपस्थिति' का भाव इतने ज़बरदस्त तरीक़े से, इतनी ऊष्मा और आश्वासन के साथ आया कि मैंने अनुभव किया कि आप चाहती हैं कि मैं अपने इस नये काम को स्वीकार कर लूँ। इसलिए मैंने हामी भर दी और कह दिया कि मैं यह काम कर दूँगी। क्या मैं सही थी?

नहीं। तुम्हें हामी नहीं भरनी चाहिये थी।

'उपस्थिति' का अर्थ क्या था?

उसका अर्थ था—तुम्हें यह शक्ति देना कि तुम अस्वीकार कर दो और हमेशा बस यही याद रखो कि तुम केवल भगवान् की हो।

उत्तर देने से पहले मुझसे पूछ लेने में अधिक बुद्धिमत्ता होती।

अब मुझे तुमसे कहना पड़ेगा कि इस काम को **मत** करो और कुछ समय के लिए आराम करो जिसकी तुम्हें सख़्त ज़रूरत है।

७ अक्तूबर १९५७

माँ,

आपकी 'शिक्षा' नामक पुस्तक में मैंने यह सुझाव पाया कि कैसे विद्रोही प्राण तथा अपने अन्दर के अवसाद के साथ व्यवहार किया जाये: "इन क्षणों में व्यक्ति को शान्त रहना और क्रिया करना एकदम अस्वीकार कर देना चाहिये।" आपका कहने का वही अर्थ है जो ये शब्द कह रहे हैं? ऐसे दिनों में कार्य इत्यादि का क्या

होगा फिर ?

यह एक गलतफ़हमी है। फ्रेंच का वाक्य पर्याप्त स्पष्ट है। मेरा मतलब था कि अवसाद तथा विद्रोह के ऐसे क्षणों में, ग़लत क्रिया के आवेश में आकर कोई **नया निश्चय नहीं** करना चाहिये —लेकिन व्यावहारिक रूप से व्यक्ति को अपना सामान्य कार्य शान्ति के साथ और विक्षुब्ध हुए बिना करते रहना चाहिये।

माँ, क्या आप बतला सकती हैं कि जब तक सफलता हाथ न लगे, मुझे अपने प्रयास में डटे रहना चाहिये या नहीं ?

हाँ, निस्सन्देह डटे रहना चाहिये।

प्रायशः आपने कहा है कि हमें हठ के साथ, थके बिना लगे रहना चाहिये : “दस बार करो, सौ बार, हजार बार।” लेकिन मेरे सामने इसे करने में हमेशा रुकावट खड़ी हो जाती है क्योंकि दूसरी बातों के साथ-साथ, एक बार आपने मुझसे कहा था कि मुझे साधना बन्द कर देनी चाहिये, आराम करना और कहीं छुट्टी पर भी चले जाना चाहिये। (आपने यह नहीं बतलाया था कि कितने दिनों तक।)

यह केवल कुछ समय तक आराम करने की बात थी।

मेरे अन्दर कोई चीज़ लगे रहने में बाधा देती है, लेकिन मुझे मालूम नहीं कि यह आप हैं या कोई और विरोधी शक्ति या फिर मेरा अपना आलस।

निश्चित रूप से मैं नहीं हूँ।

आप पहुँच के इतनी बाहर क्यों हैं ? मैं आपसे बात नहीं कर सकती, आपको लिख नहीं सकती। कई बार मैंने कोशिश की, लेकिन फिर हमेशा यह सोच कर कि यह सब करना एकदम निस्सार है, मैं हमेशा रुक गयी।

लिखती क्यों नहीं हो ? मैंने कभी लिखने पर पाबन्दी नहीं लगायी और मैं किन्हीं भी तर्कपूर्ण प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमेशा तैयार रहती हूँ।

मेरे प्रेम और आशीर्वादों के साथ।

८ अक्तूबर १९५७

दयालु भगवती माँ,

मैं आपकी चिड़्डी, आपके स्पर्श, और इस ऊष्माभरी, प्रिय भावना से आपके प्रति बहुत कृतज्ञ हूँ कि मैं फिर से आपकी हो गयी हूँ।

आपको दोबारा तंग करने के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ, लेकिन अभी तक मैं डटे रहने के मामले में बहुत ऊहापोह में पड़ी हुई हूँ; इस प्रश्न ने मुझे इतने दिनों से तंग कर रखा है कि मुझे लगता है कि इस बार मैं इसे पूरी और अच्छी तरह समझ लूँ। मेरा इससे क्या अर्थ है इसका एक उदाहरण यहाँ है :

अभी हृदय में एकाग्र होने में मुझे रस है; मैं अपने व्यवहार में भी बदलाव की ज़रूरत महसूस करती हूँ। क्या मैं इन दो चीज़ों^१ पर गम्भीरता से काम करना तब तक जारी रखूँ जब तक आन्तरिक द्वार खुल नहीं जाते या जब तक मैं अपने मनोभावों को बदलता हुआ नहीं देख लेती। और अगर मेरा रस कम हो जाये या अगर मैं कुछ ऐसा पढ़ूँ या आप कक्षा में कुछ ऐसा कहें कि मेरे अन्दर किसी दूसरी दिशा में बढ़ने की प्रेरणा जागे—उदाहरण के लिए, 'नूतन जगत्' के बारे में सोचना, पीछे हटना, अपने विचारों पर संयम रखना इत्यादि,—तो क्या अभी मैं जो काम कर रही हूँ उसे छोड़ कर, नयी दिशा अपना लूँ?

सबसे अच्छा है कि इन सभी अभीप्साओं को एक साथ अपने हृदय में जीवन्त रखो, ये पृष्ठभूमि में तैयार रहें, एक या दूसरी अभीप्सा, अथवा एक साथ कई अभीप्साओं को क्रिया में उतारने पर ज़ोर दो—जब-जब वे चेतना में स्पष्ट रूप से उभरें, किसी को भी नज़रअन्दाज़ न करो। इसके पीछे विचार यह है कि सर्व-आलिगनकारी क्रिया में, किसी को भी त्यागे बिना, तुम सभी का अनुसरण करने में समर्थ हो जाओ।

शाम को क्रीडांगण में, आपकी चिड़्डी मिलने से पहले, मेरे अन्दर विचार उठे, मुझे विश्वास है कि यही आपका उत्तर होगा :

“किसी क्रिया को जारी रखने के लिए जब तुम्हारे स्वभाव या तुम्हारी इच्छा में उसे पर्याप्त सहारा नहीं मिलता, वह क्रिया छूट जाती है और कार्य दूसरी दिशा में मुड़ जाता है। लेकिन तुम्हारी गलती यह है कि ऐसा होने पर तुम्हें लगता है कि तुम असफल हो गयी, और इससे तुम हताश हो जाती हो। तुम्हें बस अभीप्सा करते रहना चाहिये और तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिये जब तक दूसरी प्रेरणा न आये। अपने-आप पर ज़बरदस्ती करना गलत चीज़ है।

“यह पौधे उगाने-जैसा है : तुम उन्हें रोपती हो, थोड़ी खाद डालती हो, थोड़ा सींचती हो, हर एक क्रिया बारी-बारी से करती हो। तुम सारी ऋतु का पानी एक^१ इस वाक्य के हाशिये पर माँ ने लिख दिया : “हाँ, लेकिन ऐकान्तिक क्यों हुआ जाये?”

साथ नहीं दे सकतीं। या यह खड़ी चढ़ाई के पहाड़ पर चढ़ने-जैसा है। चढ़ने के लिए तुम झाड़ियों, पत्थरों, जो कुछ चढ़ने में तुम्हारी सहायता करे, पकड़ कर चढ़ती हो। और अगर कभी किसी पत्थर पर से तुम्हारा हाथ फिसल जाये या वह जवाब दे दे तो यह इस बात का संकेत नहीं है कि पहले पत्थर का सहारा लेना गलत था। जो कुछ करने की तुम कोशिश करो, भले एक ही बार क्यों न करो, हमेशा सहायक होती है, एक क़दम आगे बढ़ना, प्रगति करना होता है। लेकिन अगर वह चीज़ तुम्हारी मदद करना जारी न रखे, तो तुम्हें कार्य छोड़ नहीं देना चाहिये अथवा हताश नहीं हो जाना चाहिये—कुछ और करने की कोशिश करो।”

सचमुच यह उसका मानसिक अनुवाद है जिसे मैं कोशिश कर रही हूँ कि तुम अनुभव करो और जब तक इसके स्थान पर कोई बेहतर तरीका नहीं आ जाता, इस पर अमल किया जा सकता है।

निश्चय ही इसका अर्थ है—डटे रहना, लेकिन किसी वस्तु-विशेष पर नहीं। क्या यह भी आपसे आया?

हाँ, सार रूप में।

क्या मैं ऐसे ही करूँ?

हाँ, लेकिन सचमुच समझने के लिए तुम्हें जहाँ तक सम्भव हो, किसी भी चीज़ को छोड़ देने या शुष्क मानसिक कठोरता से बचना चाहिये।

१३ अक्टूबर १९५७

हमारी पहली तल्लीनता

दिव्य जीवन के अन्दर वृद्धि में अध्यात्म-पुरुष हमारी पहली तल्लीनता होना चाहिये। जब तक हम उसे उसके मानसिक, प्राणिक, शारीरिक आच्छादनों और छद्मवेशों से निकाल कर अपनी सत्ता में प्रकट और विकसित नहीं कर लेते, उपनिषद् के अनुसार, धीरज के साथ उसे शरीर में से बाहर नहीं निकाल लेते, जब तक हम अपने अन्दर अध्यात्म-पुरुष का आन्तरिक जीवन नहीं बना लेते, स्पष्ट है कि तब तक बाहरी दिव्य जीवन सम्भव नहीं हो सकता।... एक बार यह आन्तरिक जीवन बन जाये तो हमारी दूसरी तल्लीनता होनी चाहिये, सारी सतही

सत्ता को, हमारे विचार, भावना और जगत् में क्रियाओं को उस आन्तरिक जीवन की पूर्ण शक्ति में बदलना। अगर हम अपने सक्रिय अंगों में उस अधिक गभीर और महान् रीति से रहें तभी महत्तर जीवन के सृजन की शक्ति आ सकती है या जगत् का ऐसा पुनर्निर्माण किया जा सकता है जिससे वह मन या प्राण की किसी शक्ति या पूर्णता या अध्यात्म की शक्ति या पूर्णता का रूप ले ले। पूर्णकृत मानव-जगत् न तो ऐसे मनुष्यों के द्वारा बन सकता है और न ऐसे मनुष्यों का हो सकता है जो स्वयं अपूर्ण हों। अगर हमारे सभी कर्म, शिक्षा, विधान, सामाजिक या राजनीतिक मशीन द्वारा बड़ी ही सावधानी के साथ नियन्त्रित हों फिर भी हमें प्राप्त होगा मनो का नियमबद्ध नमूना, जीवनों का गढ़ा हुआ नमूना, आचार का परिष्कृत नमूना। लेकिन इस तरह की अनुरूपता भीतरी मनुष्य को न तो बदल सकती है न उसका पुनर्निर्माण ही कर सकती है। वह काँट-छाँट कर या तराश कर पूर्ण अन्तरात्मा या पूर्ण विचारशील मनुष्य या पूर्ण या विकसनशील जीवन्त सत्ता को नहीं बना सकती। क्योंकि अन्तरात्मा, मन तथा प्राण सत्ता की वे शक्तियाँ हैं जो बढ़ तो सकती हैं पर उन्हें तराशा या बनाया नहीं जा सकता। कोई बाहरी प्रक्रिया या रूपायण अन्तरात्मा, मन और प्राण की सहायता कर सकता है, उन्हें प्रकट कर सकता है परन्तु उनकी रचना या उनका विकास नहीं कर सकता। निश्चय ही हम सत्ता की वृद्धि में सहायता कर सकते हैं, निर्माण के प्रयास से नहीं बल्कि उस पर प्रेरक प्रभावों को डाल कर या अपनी अन्तरात्मा, मन और प्राण की शक्तियाँ देकर; लेकिन ऐसा होने पर भी वृद्धि को बाहर से नहीं अन्दर से ही आना चाहिये और वहीं से यह निर्णय करना होगा कि इन प्रभावों और शक्तियों का क्या किया जाये। यही वह पहला सत्य है जिसे हमारे सर्जनशील उत्साह और हमारी अभीप्सा को सीखना चाहिये, नहीं तो हमारा सारा मानव-प्रयास व्यर्थ के चक्कर में घूमते रहने के लिए अभिशप्त होगा और उसका अन्त रमणीय दीखने वाली असफलता में होगा।

CWSA खण्ड २२, पृ. १०५८-५९

श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द

(श्रीअरविन्द से पहली बार मिलने के बाद, अगले ही दिन,
श्रीमाँ ने अपने ध्यान के बाद लिखा)

अगर हज़ारों लोग घने-से-घने अन्धकार में धँसे हुए हैं तो कोई परवाह नहीं। हमने कल जिन्हें देखा था वे तो धरती पर हैं; उनकी उपस्थिति इस बात को सिद्ध करने के लिए काफ़ी है कि वह दिन आयेगा जब अन्धकार प्रकाश में बदल जायेगा, और तेरा राज्य धरती पर स्थापित होगा।

३० मार्च १९१४

*

जगत् के इतिहास में श्रीअरविन्द जिस चीज़ का प्रतिनिधित्व करते हैं वह कोई शिक्षा नहीं है, वह कोई अन्तःप्रकाश भी नहीं है, वह परम पुरुष की निर्णायक क्रिया है।

१४ फ़रवरी १९६१

*

श्रीअरविन्द धरती पर पुराने मतों अथवा पुरानी शिक्षाओं के साथ प्रतियोगिता करने के लिए कोई शिक्षा या मत लाने के लिए नहीं आये हैं, वे अतीत को पार करने का तरीका दिखाने और सन्निकट और अनिवार्य भविष्य के लिए मूर्त रूप में मार्ग बनाने आये हैं।

२२ फ़रवरी १९६७

*

श्रीअरविन्द भविष्य के हैं, वे भविष्य के सन्देशवाहक हैं। वे अब भी हमें 'भागवत संकल्प' द्वारा निर्मित उज्ज्वल भविष्य को जल्दी चरितार्थ करने के लिए जिस राह का अनुसरण करना चाहिये वह दिखलाते हैं।

वे सब जो मानवजाति की प्रगति और भारत की ज्योतिर्मयी नियति के लिए सहयोग देना चाहते हैं, उन सबको सूक्ष्मदर्शी अभीप्सा और ज्योतिर्मय कार्य के लिए मिल कर काम करना चाहिये।

१५ अगस्त १९७१

*

श्रीअरविन्द जगत् को उस भविष्य के सौन्दर्य के बारे में बतलाने आये थे जिसे चरितार्थ करना चाहिये।

वे उस भव्यता की आशा ही नहीं, निश्चिति देने आये थे जिसकी ओर जगत् गति कर रहा है। जगत् एक दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना नहीं है, यह एक अद्भुत चीज़ है जो अपनी अभिव्यक्ति की ओर गति कर रही है।

जगत् को भविष्य के सौन्दर्य की निश्चिति की ज़रूरत है। और श्रीअरविन्द ने यह आश्वासन दिया है।

२७ नवम्बर १९७१

*

श्रीअरविन्द जगत् के लिए दिव्य भविष्य का आश्वासन लाये हैं।

*

श्रीअरविन्द धरती पर अतिमानसिक जगत् की अभिव्यक्ति की घोषणा करने आये थे और उन्होंने इस अभिव्यक्ति की घोषणा ही नहीं की बल्कि अंशतः अतिमानसिक शक्ति को मूर्त रूप भी दिया और अपने उदाहरण से दिखलाया कि उसे अभिव्यक्त करने के लिए हमें अपने-आपको तैयार करने के लिए क्या करना चाहिये। हम सर्वोत्तम चीज़ यही कर सकते हैं कि उन्होंने जो कुछ बतलाया है उसका अध्ययन करें और उनके उदाहरण का अनुसरण करने की कोशिश

करें और अपने-आपको नयी अभिव्यक्ति के लिए तैयार करें।

यह चीज़ जीवन को उसका असली भाव देती है और हमें सभी बाधाओं पर विजय पाने में सहायता देगी।

आओ, हम नूतन सृष्टि के लिए जियें और तब हम युवा और प्रगतिशील रहते हुए अधिकाधिक बलवान् बनेंगे।

३० जनवरी १९७२

*

श्रीअरविन्द ने अतिमानसिक चेतना को मानव शरीर में अवतरित किया और न केवल उन्होंने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जिस मार्ग का अनुसरण करना चाहिये उसकी प्रकृति और उस पर चलने का तरीका बतलाया बल्कि उन्होंने अपनी व्यक्तिगत उपलब्धि के द्वारा हमारे सामने उदाहरण भी रखा। उन्होंने हमारे सामने प्रमाण रखा कि यह किया जा सकता है और कहा कि उसे करने का समय यही है।

श्रीमाँ

कर्म और साधना

मैंने भक्ति पर कभी प्रतिबन्ध नहीं लगाया। मुझे खयाल नहीं है कि मैंने कभी किसी समय ध्यान पर प्रतिबन्ध लगाया हो। मैंने अपने योग में भक्ति और ज्ञान दोनों पर जोर दिया है और साथ ही कर्म पर भी, भले ही मैंने शंकर या चैतन्य की तरह उनमें से किसी एक को ऐकान्तिक महत्त्व न दिया हो।

साधना में तुम या कोई भी साधक जिस कठिनाई का अनुभव करता है वह सचमुच ध्यान बनाम भक्ति बनाम कर्म का प्रश्न नहीं है। कठिनाई तो यह है कि कौन-सी मनोवृत्ति अपनायी जाये या कौन-से प्रवेश-मार्ग को—तुम उसे जो चाहो कह लो—अपनाया जाये।

अगर तुम अभी तक काम करते हुए सारे समय भगवान् को याद नहीं रख सकते तो इसका बहुत महत्त्व नहीं है। अभी के लिए इतना काफ़ी होगा कि शुरू में स्मरण और समर्पण करो और अन्त में धन्यवाद दो। या अधिक-से-अधिक जब कभी ज़रा विराम हो तब भी स्मरण कर लो। तुम्हारा तरीका मुझे दुष्कर और कष्टकर मालूम होता है,—ऐसा मालूम होता है कि तुम मन के एक और समान भाग से याद करने और काम करने की कोशिश करते हो। मुझे पता नहीं कि यह सम्भव है या नहीं। जब लोग काम करते हुए सारे समय स्मरण करते हैं (यह किया जा सकता है), तो यह सामान्यतः अपने मन के पिछले भाग से करते हैं या धीरे-धीरे दोहरे विचार या दोहरी चेतना की क्षमता पैदा हो जाती है—एक सामने जो कार्य करती है और दूसरी अन्दर जो साक्षी-भाव से देखती और स्मरण करती है। एक और तरीका भी है,

जो एक लम्बे समय तक मेरा तरीका रहा है—एक ऐसी अवस्था जिसमें कर्म व्यक्तिगत विचार या मानसिक क्रिया के हस्तक्षेप के बिना स्व-चालित रूप से चलता रहता है, जब कि चेतना भगवान् के अन्दर नीरव-निश्चल बनी रहती है। लेकिन यह चीज़ इतनी ज़्यादा प्रयास के द्वारा नहीं आती जितनी बहुत ही सरल सतत अभीप्सा और उत्सर्ग के संकल्प द्वारा आती है—या फिर चेतना की ऐसी गति से आती है जो आन्तरिक सत्ता को यन्त्रीय सत्ता से अलग करती है। अभीप्सा और उत्सर्ग का संकल्प—जो महत्तर शक्ति को कार्य करने के लिए नीचे बुलाते हैं, एक ऐसा तरीका है जो बड़े परिणाम लाता है—चाहे कुछ लोगों में यह बहुत अधिक समय ले। यह जानना साधना का एक बहुत बड़ा रहस्य है कि मन के प्रयास से सब कुछ करने की जगह, पीछे या ऊपर की शक्ति के द्वारा कैसे काम करवाया जाये। मेरा मतलब यह नहीं है कि मन का प्रयास अनावश्यक है या उसका कोई परिणाम नहीं आता—हाँ, जब वह सारा काम अपने-आप ही कर लेना चाहता है तो वह आध्यात्मिक मल्लों के सिवा बाक़ी सबके लिए श्रमसाध्य हो जाता है। मेरे कहने का यह भी मतलब नहीं है कि वह दूसरा मार्ग हमारा वाञ्छित छोटा रास्ता है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि हो सकता है कि परिणाम आने में बहुत समय लगे। धैर्य और दृढ़ निश्चय, साधना की हर पद्धति में आवश्यक हैं।

बलवान् के लिए बल ठीक है—लेकिन अभीप्सा और उसे उत्तर देने वाली भागवत कृपा कठोरी कपोल-कल्पनाएँ नहीं हैं; वे आध्यात्मिक जीवन की महान् वास्तविकताएँ हैं।

*

ध्यान भगवान् की ओर जाने के लिए एक रास्ता है, लेकिन उसे छोटा या सुगम उपाय नहीं कहा जा सकता। अधिकतर लोगों के लिए यह लम्बा और बहुत कठिन और ऊँची चढ़ाई का मार्ग है। वह किसी हालत में भी छोटा तो नहीं हो सकता जब तक कि वह अपने साथ अवतरण न लाये और उस हालत में भी वह केवल जल्दी में डाली गयी एक नींव है, बाद में ध्यान को बड़े परिश्रम के साथ उस नींव पर एक बड़ी अधिरचना बनानी होती है। यह बहुत अनिवार्य है, लेकिन इसमें छोटा या सुगम कुछ नहीं है।

कर्म कहीं अधिक सरल मार्ग है बशर्ते कि तुम्हारा मन भगवान् को एक ओर रख कर्म पर ही स्थिर न हो जाये। लक्ष्य होना चाहिये भगवान्, कर्म केवल साधन हो सकता है। कविता आदि का उपयोग अपनी आन्तरिक सत्ता के साथ सम्पर्क बनाये रखने के लिए होता है और वह अन्तर्तम के साथ सम्पर्क की तैयारी में सहायक होता है। लेकिन तुम्हें वहीं पर रुक न जाना चाहिये, तुम्हें वास्तविक सद्बस्तु की ओर बढ़ते जाना चाहिये। अगर तुम साहित्यिक व्यक्ति, कवि या चित्रकार बनना चाहते हो और इसे ही अपने-आपमें सार्थक मानते हो तो यह योग की भावना नहीं है। इसीलिए कभी-कभी मुझे कहना पड़ता है हमारा काम केवल कवि, चित्रकार आदि नहीं, योगी बनना है।

प्रेम, भक्ति, समर्पण, चैत्य उद्घाटन ही भगवान् की ओर के सुगम मार्ग हैं या हो सकते हैं क्योंकि अगर प्रेम और भक्ति बहुत प्राण-प्रधान हों तो आनन्दमय उत्कण्ठा और विरह, अभिमान

(रूठना) और निराशा के बीच उतार-चढ़ाव की सम्भावना बनी रहती है जिससे यह छोटा रास्ता न रह कर बड़ा टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता बन जाता है, सीधी उड़ान की जगह अपने अहंकार के चारों ओर गोल-गोल चक्कर रह जाते हैं।

*

मैंने हमेशा कहा है कि साधना के रूप में किया गया कर्म यानी, भगवान् से ऊर्जा के सैलाब की तरह, भगवान् को अर्पण किया जाने वाला कर्म, या भगवान् के लिए किया जाने वाला कर्म या भक्ति-भाव से किया गया कर्म साधना के लिए प्रबल साधन होता है और ऐसा कर्म इस योग में विशेष रूप से ज़रूरी है। योग के तीन स्तम्भ हैं—कर्म, भक्ति और ध्यान। तुम तीनों का, दो का या एक का उपयोग कर सकते हो। ऐसे लोग हैं जो उस निश्चित रूप से ध्यान नहीं कर सकते जिसे ध्यान कहा जाता है लेकिन वे कर्म या भक्ति या दोनों के द्वारा प्रगति करते हैं। कर्म और भक्ति द्वारा तुम ऐसी चेतना विकसित कर सकते हो जिसमें अन्त में स्वाभाविक ध्यान और उपलब्धि सम्भव हो जाते हैं।

CWSA खण्ड २९, पृ. २१४, २१२, २०९

श्रीअरविन्द

२१ अगस्त १९५७ का वार्तालाप

माँ, काफ़ी समय से कुछ ऐसा महसूस होता है कि हमारी गतिविधियों में सामान्य चेतना कुछ नीचे गिर गयी है, विशेषकर, जब से आश्रम इतना अधिक बढ़ गया है। इसका क्या कारण है और हम इसका क्या इलाज कर सकते हैं?

क्या तुम आश्रम की सभी गतिविधियों की बात कर रहे हो या केवल खेलकूद की?... आश्रम की सभी गतिविधियाँ?

बहुत अधिक को तो मैं जानता नहीं, माँ, जिनको मैं देखता हूँ उनमें।

(लम्बी चुप्पी के बाद) बात कुछ जटिल-सी है, मैं समझाने की कोशिश करती हूँ।

एक लम्बे अरसे तक आश्रम व्यक्तियों का केवल एक जमघट था, प्रत्येक व्यक्ति किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व करता था, पर एक व्यष्टि के तौर पर ही, उनमें कोई सामूहिक संगठन नहीं था। यह शतरंज-पटल पर रखे पृथक्-पृथक् प्यादों की तरह था—उनमें केवल ऊपर से दीखने वाली एकता थी—या यँ कहें कि यह एक ऊपरी तथ्य था कि लोग एक स्थान पर एक साथ रहते थे और उनमें कुछ आदतें समान थीं—वे भी बहुत नहीं, बस कुछ-एक ही। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार विकास करता था—या नहीं करता था—और दूसरों के साथ

उसका सम्बन्ध कम-से-कम था। इस प्रकार, इस विचित्र समूह का गठन करने वाले व्यक्तियों के मूल्य के अनुरूप यह कहा जा सकता था कि एक सामान्य मूल्य था, वह भी बहुत अस्पष्ट और उसमें कोई सामूहिक संगठन-जैसा कुछ नहीं था। यह स्थिति बहुत लम्बे—बहुत ही लम्बे समय तक बनी रही। और यह तो केवल अभी हाल ही में एक सामूहिक संगठन की आवश्यकता अनुभव होनी शुरू हुई—यह ज़रूरी नहीं है कि यह आश्रम तक ही सीमित हो, बल्कि उन सबको भी अपने अन्दर समाविष्ट किये हुए है जो अपने-आपको श्रीअरविन्द का शिष्य कहते हैं—मेरा मतलब है, भौतिक रूप से नहीं, बल्कि अपनी चेतना में—और उनकी शिक्षा के अनुसार जीवन बिताने का प्रयत्न करते हैं। उन सबमें एक ऐसे सच्चे संघ के जीवन की आवश्यकता जाग्रत हो गयी है जो पूर्णतया भौतिक परिस्थितियों पर ही आधारित न हो बल्कि एक गहनतर सत्य का प्रतिनिधित्व करता हो, और जब से अतिमानसिक चेतना और शक्ति का अवतरण हुआ है तब से यह और भी प्रबल हो उठी है। यह एक ऐसे समाज का आरम्भ है जिसे श्रीअरविन्द ने अतिमानसिक या विज्ञानमय समाज कहा है...। निश्चय ही, उन्होंने यह कहा है कि इसके लिए समुदाय के व्यक्तियों के अपने अन्दर भी अतिमानसिक चेतना होनी चाहिये; परन्तु इस व्यक्तिगत पूर्णता तक पहुँचे बिना—बल्कि इस पूर्णता से बहुत दूर रहते हुए भी—जिसे हम “सामूहिक व्यक्तित्व” कह सकते हैं उसके निर्माण के लिए एक आन्तरिक प्रयत्न भी साथ-साथ चलता रहा है। सच्ची एकता की, एक गहनतर सम्बन्ध की आवश्यकता अनुभव होती रही है और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाता रहा है।

इससे कुछ... कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुई, क्योंकि पहले की प्रवृत्ति इतनी अधिक वैयक्तिक थी कि कुछ आदतों में खलल पड़ा, मेरा मतलब यह नहीं है कि भौतिक रूप में पड़ा, क्योंकि चीज़ें उससे बहुत भिन्न नहीं हैं जैसी पहले थीं, खलल कुछ गहरी चेतना में पड़ा। और **सबसे बढ़ कर** यह—इसी बात पर मैं ज़ोर देना चाहती हूँ—कि इसने कुछ हद तक एक आन्तरिक परस्पर-निर्भरता पैदा कर दी है जिसने, स्वभावतः ही, वैयक्तिक स्तर को—ज़रा—गिरा दिया है, सिवाय उन लोगों के जिन्होंने, हम कह सकते हैं, पहले ही “समान स्तर” करने की प्रवृत्ति का मुकाबला करने-लायक पर्याप्त सक्षम आन्तरिक सिद्धि पा ली है। इसी से ऐसा लगता है कि सामान्य स्तर नीचे गिर गया है, पर यह बात ठीक नहीं है। सामान्य स्तर पहले से अधिक ऊँचा है, परन्तु वैयक्तिक स्तर कइयों में नीचे आ गया है, वे लोग भी, जो किसी एक या दूसरी उपलब्धि के योग्य थे, ऐसा अनुभव करने लगे हैं मानों उन पर एक भार आ पड़ा है, जो उन्हें पहले नहीं ढोना पड़ता था, वे नहीं जानते कि ऐसा क्यों हुआ, यह भार परस्पर-निर्भरता का परिणाम है। पर यह केवल एक अस्थायी प्रभाव है जो उलटे, सुधार की ओर, एक बहुत स्पष्ट सामान्य प्रगति की ओर ले जायेगा।

निस्सन्देह, यदि प्रत्येक व्यक्ति सचेतन होता और इस प्रकार के समतलन के प्रभाव के आगे झुकने की बजाय इसका मुकाबला करता, ताकि वह समुदाय से आने वाले तत्त्वों, प्रभावों, प्रवाहों को रूपान्तरित कर सकता, उन्हें परिवर्तित एवं उन्नत कर सकता तो **समूचा समुदाय** ही

वेग के साथ उच्चतर चेतना में उठ जाता और उससे बहुत आगे बढ़ जाता जहाँ वह पहले था।

मैंने जब तुमसे प्रयत्न करने की अधिकाधिक अनिवार्य आवश्यकता के बारे में कहा था—विस्तारपूर्वक समझाये बिना—तो मेरा अभिप्राय यही था। और निश्चित रूप से मेरा यह इरादा भी था कि मैं तुम्हें एक दिन यह समझाऊँ कि तुम जो व्यक्तिगत प्रयत्न करोगे उससे केवल व्यक्तिगत उन्नति ही न होगी, बल्कि यूँ कह सकते हैं कि, वह फैलेगी या उसके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामूहिक परिणाम होंगे। परन्तु मैंने कुछ नहीं कहा क्योंकि मैं महीनों से व्यक्तिगत चेतना को सामूहिक व्यक्तित्व की आवश्यकता को स्वीकार करने, बल्कि कह सकती हूँ कि उसे मानने के लिए ही तैयार करना चाह रही थी। यही चीज़ है जो तुम्हें अब बतायी जानी चाहिये। इस ऊपर से दीखने वाले पतन का, जो अकेला नहीं है, दूसरा कोई कारण नहीं। यह विकास की सर्पिल गति है जिसकी यह माँग है कि व्यक्ति उपलब्ध स्थिति से दूर चला जाये, ताकि वह उपलब्धि न केवल अधिक विस्तृत, बल्कि अधिक ऊँची भी हो जाये। यदि इसमें प्रत्येक व्यक्ति चेतन रूप से और सद्भावना के साथ सहयोग दे तो यह विकास कहीं अधिक द्रुत गति से आगे बढ़ेगा।

यह एक अनिवार्य आवश्यकता है यदि तुम चाहते हो कि आश्रम का यह जीवन जीने-लायक हो। प्रत्येक वस्तु जो उन्नति नहीं करती आवश्यक रूप से अवनत होने लगती है और नष्ट हो जाती है। यदि आश्रम को बने रहना है तो उसे अपनी चेतना में विकास करना होगा और एक सजीव समष्टि बनना होगा। तो यह बात है।

विकास के सर्पिल चक्कर में इस समय हम उपलब्धि की उस रेखा से काफ़ी दूर ही चले गये हैं जहाँ हम कुछ वर्ष पूर्व थे, परन्तु हम दोबारा उस पर लौट आयेंगे, पर पहले से ऊँचे स्तर पर।

तो यह है उत्तर।

कुछ गतिविधियाँ ऐसी हो सकती हैं जो बाहरी तौर से उसके विपरीत मालूम हों जो कुछ मैंने अभी कहा है, पर वह... ऐसा तो सदा ही होता है। कारण, प्रत्येक बार जब तुम कोई चीज़ चरितार्थ करना चाहते हो तो पहली कठिनाई जो तुम्हारे सामने आती है वह है विरोध, उन सब वस्तुओं का विरोध जो पहले सक्रिय नहीं थीं और अब विरोध करने के लिए उठ खड़ी हुई हैं। वह सब जो इस परिवर्तन को स्वीकार करना नहीं चाहता, स्वभावतः, भड़क उठता और विद्रोह करता है। पर इसका कुछ महत्त्व नहीं। यह वैसी ही चीज़ है जैसी व्यक्ति में होती है : जब तुम प्रगति करना चाहते हो, जिस कठिनाई को जीतना चाहते हो वह तुरत ही तुम्हारी चेतना में दसगुना अधिक महत्त्वपूर्ण और बलवती हो उठती है। केवल डटे रहने की बात है, बस। वह गुज़र जायेगी।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ९, पृ. १९२-९५

श्रीअरविन्द के उत्तर

(८९)

शाम को 'च' मुझसे यह पूछने आयी कि मैं दोपहर को खाने के लिए क्यों नहीं गया। मैं इसलिए खा नहीं पाया क्योंकि कल के आलोड़ित कर देने वाले रुदन के बाद मैंने अपने पेट में गरमी महसूस की और मैंने सोचा कि एक बार का खाना छोड़ दूँ तो बुद्धिमानी होगी। आंशिक रूप से इसका कारण मेरी आज की दुर्दशा भी थी। मैंने उसे यही जवाब दिया। उसके जाने के बाद मैं उसके लिए कामुक-संवेदना अनुभव करने लगा। फिर रात को मैं उसके कमरे में जाकर घण्टे-भर तक उसकी गोदी में लेटा रहा। बहुत अजीब था—मुझे बहुत शीतलता का अनुभव हुआ और मैंने कामुक-संवेदना को अपने से दूर रखा। यहाँ तक कि आने के बाद भी मुझे कुछ नहीं हुआ; वरना, सामान्यतया कुछ अनुभव तो होता ही है। स्पष्ट है कि उसके लिए कामुक-संवेदना ज़्यादा तो मेरे अन्दर के प्राण की पुरानी आदत की वजह से हुई, और एक ठोस स्पर्श से वह संवेदना बढ़ने की बजाय ख़तम हो गयी। या फिर हो सकता है कि उसके प्राण ने मुझे उस तरह आकर्षित नहीं किया जैसा कि वह पहले किया करती थी। उसने मुझे अपनी गोद में बच्चे की तरह लेटने दिया।

'च' के हिसाब से यह दो घण्टों से ज़्यादा था और यह उसके लिए एकदम अनुकूल नहीं था। अगर ऐसा है तो सेक्स के आकर्षण के न होने की बात समझ में आती है, सम्भवतः। बहरहाल, कामुक-प्रतिक्रिया से पल्ला झाड़ने के लिए मुझे यह ख़तरनाक तरीक़ा लगता है।

सचमुच, सवेरे मैं विक्षुब्ध अवस्था में बिलकुल नहीं था। मैं एकदम शान्त था, वह तो प्रणाम के बाद मैं निराश हो गया कि मुझे प्रणाम के लिए सामान्य से कुछ ज़्यादा समय नहीं दिया गया। यह मेरी तरफ़ से एक माँग हो सकती है, और माँ हमारी माँगों के अनुसार क्रिया करने को बाध्य नहीं हैं। यह भी हो सकता है कि माँ यह परीक्षा लेना चाहती थीं कि मेरी उस माँग का क्या मुझ पर अब भी कोई असर पड़ता है? लेकिन यह अनुचित और असामयिक परीक्षा थी जब मैं मुश्किल से हस्त-मैथुन और "काम-केलि" के विचार को धकेलने में बस सफलता के कगार पर था। मैं इन सभी चीज़ों को एक साथ सँभालने में असमर्थ हूँ और मेरे लिए आपको कुछ सहानुभूति तो होनी चाहिये। वरना नयी चीज़ें आसानी से आ जाती हैं, जैसे यहाँ से चले जाने का दबाव—हाँ, और मनहूस होकर मैंने यहाँ से चले

जाने का निश्चय कर लिया था, भले आप मेरे “मनहूस” शब्द पर क्यों न हँसें। पिछले तीन दिनों से मैं पर्याप्त रूप से अनासक्त था और हस्त-मैथुन के दबाव को अपने ऊपर हावी न होने देने में सफल भी रहा। लेकिन इसके बारे में बताने का क्या फ़ायदा जब आप यह चाहते हैं कि मैं इस बात पर विश्वास कर लूँ कि माँ ने मुझे अधिक सहायता देने की कोशिश की और मेरे सिर पर हमेशा की तरह हाथ रखा—जो सच नहीं है। अगर मैं इसे सह नहीं सकता तो यह मेरी कमज़ोरी है। हो सकता है कि यह मेरी माँग हो, लेकिन मेरे ख़याल से बस मैं यही एक माँग करता हूँ जिसे आपने कभी उचित समय पर मुझे सहारा देकर सन्तुष्ट नहीं किया। मेरे यहाँ से चले जाने के सभी निश्चयों के पीछे बस यही एकमात्र मूल कारण है, और कोई नहीं—और उस समय न यह कोई भ्रम था न ही ग़लत धारणा। अगर यह कोई माँग होती तो माँ के मेरे मन-मुताबिक व्यवहार न करने पर मैं उसे सँभाल न पाता, और अगर आप अन्यथा करेंगे तो आप मुझ पर केवल अत्याचार करेंगे या मेरे अन्त का कारण बन जायेंगे! दूसरे सभी मामलों में मैं अपना अच्छे-से-अच्छा करता आ रहा हूँ, अगर वह सन्तोषजनक नहीं है तो इससे ज़्यादा मैं और क्या कर सकता हूँ? मैं बहुत ही अदना-व्यक्ति हूँ!

यह सब इस वाक्य पर आकर समाप्त हो जाता है, “श्रीअरविन्द, आप एक झूठे हैं; माँ, आप एक क्रूर अत्याचारी हैं जिनका काम ही है लोगों को दुःख पहुँचाना और उनके दुःख-दर्द पर हँसना। आप ही मेरे सभी कष्टों की ज़िम्मेवार हैं।” बार-बार इन बातों का जवाब देना कितनी मूर्खता है। मैं बस यही आशा रख सकता हूँ कि कल तक या जल्दी-से-जल्दी तुम इस दौरे को अपने ऊपर से झाड़ फेंकोगे।

२८ जून १९३५

मैं वहाँ ९ से ११.१५ तक था, लेकिन मैंने घण्टा-भर इसलिए लिखा कि बस उतने ही समय मैं ‘च’ की गोदी में लेटा। यह सच है कि हर पल वह मुझे चेतावनी दे रही थी। लेकिन बहरहाल, स्पर्श के सिवाय मैं और आगे नहीं बढ़ सकता था। न मैंने ऐसा कुछ भी करने की छूट ही ली जिसे सामान्यतया कामुक माना जायेगा। दरवाज़े खुले हुए थे और अधिक तो मैं थकान की निष्क्रिय अवस्था में था, क़रीब-क़रीब अशक्त अवस्था में। और न भविष्य में इस तरह मैं जाना ही चाहता हूँ। मैं उससे कह कर आ गया हूँ कि कल और उसके बाद भी मैं उससे बातचीत तक नहीं करूँगा। अगर वह मुझसे यह पूछने नहीं आती कि मैं खाना खाने क्यों नहीं गया, मैं उसके कमरे में कभी जाता ही नहीं। मेरे अन्दर कामुक-सम्पर्क की आवश्यकता नहीं थी, होती भी तो क्या मैंने पिछले चार दिनों से उसको प्रकट होने की अनुमति दी?

जब वह आयी मैं एकदम ठीक था, लेकिन उसके जाने के बाद, मुझे उसकी तरफ़ से खिंचाव का अनुभव हुआ और मैंने सम्पर्क का अनुमोदन दे दिया। बहरहाल, क्या यह इतना ख़राब या ख़तरनाक है? मुझे याद है, पिछले साल 'स' या 'अ' के साथ के सम्पर्क ने मेरे अन्दर कामुक-विक्षोभ कहीं ज़्यादा पैदा कर दिया था जितना 'च' ने कभी नहीं किया।

मुझे लगता है कि ऐसे सम्पर्क ख़तरे से ख़ाली कभी नहीं हो सकते जब तक कि दोनों तरफ़ा पूरी तरह से शुद्धि और कामुकता से पूरी तरह मुक्त न हों। बहरहाल, अगर इसका कोई परिणाम न आये तो ख़तरा टल सकता है।

श्रीमाँ की मुस्कान और प्रणाम के समय आशीर्वाद-रूप में हमारे मस्तकों पर हाथ रखना—अगर यह सब जो मैंने कहा, मेरी अपनी रचना है तो यह चीज़ इतने दिनों तक क्यों चलती चली गयी? इसका कोई अर्थ तो है, और यह कैसे सम्भव है कि यह एकदम अचानक ही बदल गयी? या इसके बारे में लोग इतने अधिक विक्षुब्ध क्यों हो जाते हैं? साधारण जीवन में इसका समकक्ष तो बस “प्रेम में असफलता के कारण आत्महत्या” ही है। मुझे लगता है कि प्रेमी के सिवाय और कोई इतना परेशान और विकल न होगा अगर व्यक्ति उसे देख कर मुस्कुराये नहीं या कम मुस्कुराये। आन्तरिक रूप से आप हमें क्या प्रदान करती हैं और हम क्या स्वीकार करते हैं—इसके लिए तो हमारे अन्दर एक मज़बूत आधार चाहिये या एक सुस्पष्ट समझ और दृष्टि, और इन दोनों चीज़ों का मेरे अन्दर अभाव है। प्रायशः मैं परेशान नहीं होता। वह तो बस दो महीनों में एक बार मैं श्रीमाँ से कुछ अधिक सहारे की आशा रखता हूँ। और उसे भी आप बकवास कह कर उड़ा देना चाहते हैं! यह चीज़ जब-जब मेरे अन्दर उठे, मुझे इससे बाहर निकलने का कोई रास्ता ढूँढ़ना होगा या मुझे किसी ऐसे को खोज निकालना होगा जिसे मैं यह सब कह सकूँ, बनिस्बत इसके कि अपनी माँ के बारे में आपको लिखूँ और उसे आप पर थोपूँ। क्या आपको नहीं लगता कि रोज़-रोज़ आपको चिट्ठी न लिखने पर भी चलेगा? आपकी चिट्ठी से मैं ऐसा समझा कि अब आप नहीं चाहते कि मैं आपके साथ चिट्ठी-पत्री करूँ।

मुझे मालूम नहीं कि तुम किस चिट्ठी का सन्दर्भ दे रहे हो। मैंने न कभी कहा न कभी सुझाव दिया कि मैं नहीं चाहता कि अब तुम मेरे साथ पत्राचार जारी न रखो।

मुस्कान और स्पर्श की इस ग्रस्तता पर तुम्हें विजय पानी ही होगी, इसका त्याग करना ही होगा क्योंकि साधकों को अस्त-व्यस्त करने और उनकी प्रगति में बाधा डालने के लिए यह चीज़ प्रतिरोधी शक्तियों का एक उपकरण बन गयी है। मैंने ऐसे बहुतेरे मामले देखे हैं

जिनमें साधक पथ पर अच्छी तरह बढ़ रहा है, यहाँ तक कि उच्च अनुभूतियाँ पा रहा है, चेतना का परिवर्तन भी चल रहा है और अचानक यह कल्पना उसके सामने कौंध जाती है और सब कुछ अस्त-व्यस्तता में बदल जाता है, विद्रोह, दुःख-दर्द, हताशा उस पर छा जाती हैं और उसके आन्तरिक कार्य में बाधा आ जाती है और सारा काम खटाई में पड़ जाता है। अधिकतम मामलों में यह प्रहार अपने साथ, एक संवेदनशील भ्रम ले आता है, और अगर श्रीमाँ सामान्य से अधिक मुस्कुरायें भी, अपनी समग्र शक्ति के साथ आशीर्वाद उँडेलें भी, फिर भी उनसे यही कहा जाता है, “आप मुस्कुरायी नहीं, आपने मेरा स्पर्श नहीं किया” या “आपने न के बराबर मुझे छुआ।” ऐसे भी अनेकों उदाहरण हैं जब माँ ने मुझसे कहा, “मैंने ‘क्ष’ को परेशान देखा या किसी सुझाव को उसकी तरफ़ बढ़ते देखा और मैंने अपनी कोमलतम मुस्कान और आशीर्वाद उस पर बरसाये; इतना होने के बावजूद, बाद में हमें उससे एक चिट्ठी मिलती है जिसमें ठीक उलटी बात लिखी होती है, “आप मेरी तरफ़ देख कर मुस्कुरायीं तक नहीं, इत्यादि, इत्यादि।” और तुम सब श्रीमाँ को झूठा ठहराने में कमर कसे हुए हो, क्योंकि तुमने वैसा अनुभव किया, तुमने वही देखा और तुम्हारी इन्द्रियाँ तुम्हें धोखा नहीं दे सकतीं! मानों कोई विक्षुब्ध मन इन्द्रियों द्वारा देखी चीज़ों को तोड़-मरोड़ नहीं देता! मानों यह मनोविज्ञान का सामान्य तथ्य नहीं है कि व्यक्ति अपने मिज़ाज और विचार के अनुसार निरन्तर धारणाएँ बनाता रहता है! और मान लो कि मुस्कान या स्पर्श कम भी रहे हों तो इस सामान्य-सी चीज़ को आकाश-पाताल एक कर देने-जैसी उथल-पुथल का कारण तो नहीं बना देना चाहिये—और हमने तुम सबसे पचासों बार यह कहा भी है, चेतावनी भी दी है कि हमारा ऐसा अभिप्राय कभी भी नहीं रहा। निस्सन्देह, इसके पीछे कारण यही है कि साधक श्रीमाँ पर प्राणिक मानव-प्रेम की क्रियाएँ लागू कर देते हैं और सामान्य, प्राणिक मानव-प्रेम अविश्वास, ग़लतफ़हमी, ईर्ष्या, क्रोध, निराशा इत्यादि विरोधी क्रियाओं से भरा ही रहता है। लेकिन इस योग में ये सबसे अधिक अवाञ्छनीय चीज़ें हैं—क्योंकि यहाँ श्रीमाँ पर भरोसे, उनके भागवत ‘प्रेम’ पर बहुत अधिक ज़ोर दिया जाता है; जो कुछ भी इसे अस्वीकार करता या इसमें बाधा पहुँचाता है वह बाधाओं तथा ग़लत प्रतिक्रियाओं के लिए दरवाज़ा खोल देता है। यह बात नहीं है कि प्राण में कोई प्रेम नहीं होना चाहिये, लेकिन उसे अपने-आपको इन प्रतिक्रियाओं से दूर रखना चाहिये, स्वयं को शुद्ध रखना चाहिये और चैत्य सत्ता के विश्वास और निश्चयी आत्म-समर्पण पर अपना ध्यान जमाना चाहिये। तब पूर्ण प्रगति हो सकती है।

‘च’ अपने कमरे में बड़ी बेचैनी महसूस कर रही थी, और चूँकि मैंने उससे कहा था कि आज वह मेरे कमरे में जब चाहे आ सकती है, वह मेरे कमरे में आ गयी। लेकिन वह साधना और दूसरों के बारे में जानने के लिए बहुत ही ज़्यादा उत्सुक हो रही थी। मैं उसके तरीकों पर गौर कर रहा था, लेकिन उसने अपने “झूठ” अपनी बड़ी-बड़ी आँखों के पीछे छिपा लिये। दोपहर के पहले तक उससे बातें करने से

मेरा सिर दुखने लगा, उबकाइयाँ आने लगीं, अगर मैं उसके सम्पर्क में और अधिक रहता तो ज़रूर कामुक-संवेदन के जाल में फँस जाता।

ऐसी हालत में ज़्यादा अच्छा है कि सम्पर्क सीमित कर दिया जाये।

अगर वह इतनी बड़ी झूठी है, तब तो मैं उसके कहे एक शब्द पर भी विश्वास नहीं कर सकता, और दरअसल मैंने उसकी सभी “बुद्धिमानी” भरी बातों पर भी बिलकुल कान नहीं दिया। लेकिन कल की चिट्ठी के दबाव से शायद वह कुछ बदल जाये। और मज़ेदार बात तो यह है कि वह “सिद्धियों” के बारे में बातें करती है जब कि ऐसा लगता है कि वह साधारण मानव-स्तर तक भी नहीं पहुँच पायी है!

ये सब निरी बातें हैं—उसे कभी कोई प्रारम्भिक अनुभूति तक नहीं हुई है।

और सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि आप ऐसों को यहाँ रहने की अनुमति दे देते हैं—भले वह परीक्षण के तौर पर क्यों न हो!

और भी हैं (जैसे ‘प’) जिन्हें उदाहरण के तौर पर लिया जा सकता है। बहुत अधिक अनुकम्पा और अतिशय सदयता उनके यहाँ रहने का मुख्य कारण है। कभी-कभी रिश्तेदारों द्वारा भी लोग हम पर लाद दिये जाते हैं, उदाहरण के लिए ‘स’। मुश्किल यह है कि जिन्हें हम यह कह कर रखते हैं कि अमुक समय तक “परीक्षण” के रूप में रखा जायेगा वे नियत समय के बाद, अगर हम उन्हें न चाहें फिर भी हिलने का नाम तक नहीं लेते और किसी को ज़बरदस्ती निकालना बहुत मुश्किल है, विशेषकर अगर वे आश्रम के लिए काम कर रहे हों। तब व्यक्ति यह अधिक चाहता है कि कुछ रुक कर देखा जाये कि उनमें परिवर्तन आ रहा है या नहीं—और कई बार परिवर्तन होता ही नहीं।

२९ जून १९३५

‘च’ के लिए २७ तारीख को लिखे आपके पत्र का मैंने अनुवाद कर दिया क्योंकि वह अपनी असफलताओं के बारे में पढ़ना चाहती थी। मैंने उससे कह दिया है कि आपको पत्र भेजने से पहले वह उन्हें मुझे दिखला दे ताकि मैं उनमें हुई किसी भूल, मनोभाव अथवा शैली पर उसका ध्यान खींच सकूँ, और उसने बड़ी खुशी-खुशी मेरी यह बात मान ली! लोग कहते हैं कि उसने श्रीमाँ के विरुद्ध बातें कही हैं, लेकिन उसका कहना है कि उसने कभी ऐसा नहीं किया। तारामणि से पूछने पर उससे भी पता चला कि जब वह अकेले रहती थी तब भी उसने कभी ऐसी

कोई बात नहीं की।

उसके एकान्तवास में हमने कहीं से भी माँ के विरोध में उसके द्वारा कही कोई बात नहीं सुनी।

अपने एक सपने में मैंने एक बहुत ही लम्बे व्यक्ति को देखा जो ज़मीन पर पड़ा हुआ, करीब १० फ़ीट का था। लोग उसके चारों ओर जुटे हुए थे। कुछ उसकी बीमारी के बारे में अपनी राय दे रहे थे। मैंने नीरद से उसके “धराशायी” होने का कारण पूछा क्योंकि वही मुख्य लक्षण दीख रहा था। नीरद ने बड़ा अस्पष्ट-सा जवाब दिया। मैंने कहना शुरू किया कि हो सकता है इसका कारण बहुत अधिक थकान, दस्त, हैज़ा या रक्तहीनता हो—उसने कहा, इस सबकी कोई ज़रूरत नहीं। मैंने उससे फिर कहा, “मुझे खेद है, तुम कितने अकुशल हो!” और मैं वहाँ से निकल गया। वापसी में मैं सर्जरी के अपने प्रोफ़ेसर से मिला जो लँगड़ा कर चल रहे थे। मैं आगे बढ़ा और मेरा ध्यान घरों पर किये चूने पर गया। सामने से कुछ बैल आ रहे थे और उनमें से एक ने मुझ पर आक्रमण कर दिया, लेकिन हाथ के एक झटके से मैंने उसे एकदम परे हटा दिया, वह लौट गया। मुझे सन्देह है कि वह धराशायी मनुष्य कोई असुर हो जिसने अपनी शक्ति खो दी हो या जो विरोधी शक्ति का प्रतीक हो।

१० फ़ीट निश्चय ही असुर का सूचक है।

‘प’ बता रहा था कि ‘द’ से कहा गया है कि काम के घण्टों में वह ‘ह’ की कविताएँ न पढ़ा करे। मुझे मालूम नहीं कि क्या यह केवल उसके लिए है या सर्वसामान्य के लिए? प्रणाम के लिए आने के ठीक पहले मैं भी पढ़ा करता था, निश्चय ही, अब मुझे रोज़ाना कविताएँ पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। वह तो ज़्यादा ‘प’ के आग्रह पर मैं उन्हें पढ़ा करता हूँ। अन्यथा अपने कमरे में बैठ कर चुपचाप अध्ययन करना मुझे अधिक लाभदायक लगता है, और १२ से १.३० तक मैं उन्हें पढ़ सकता हूँ। लेकिन कई बार वह भी मेरे काम का समय होता है!

‘द’ उनमें से एक है जो पूरी तरह से आलसी और तामसिक है और निगरानी रखने की बजाय काम के समय उसकी पढ़ने की आदत थी—इसी वजह से हमने उसके काम के समय इस तरह की किसी भी चीज़ के लिए अनुमति देने से मना कर दिया।

प्रणाम के समय माँ के हाथ न रखने और न मुस्कुराने का सुझाव हमेशा नहीं होता।

यह कुछ-कुछ महीनों के बाद या तब टपक पड़ता है जब मेरे अन्दर कोई बहुत संवेदनशील चीज़ चल रही होती है। और उस समय भी अगर कोई आकर मुझसे वही समान बात कहे तो मैं स्वयं उसकी बात का घोर विरोध करूँगा और यह सिद्ध करने लगूँगा कि उसके अन्दर यह मात्र एक सुझाव है! उस समय बहरहाल, चीज़ एकदम अलग होती है। अगर श्रीमाँ मेरे सिर पर अच्छी तरह से हाथ रखें तब मैं उन्हें मुस्कुराते हुए कम पाऊँगा। अगर उनकी मुस्कान और स्पर्श ठीक हों तब मैं समझूँगा कि मुझे “प्राणिक निष्कपटता” का पुष्प या एक छोटा कमल मिला है। अगर तीनों चीज़ें सही हों तो मैं आपकी चिड़्डी में कहीं कोई खोट पा लूँगा, या अगर मुझे कुछ भी न मिला तो मैं कह सकता हूँ कि १९३२ में माँ ने मेरे साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया था, या माँ मुझे रोज़ प्रसाद क्यों नहीं दिया करतीं जैसे लीला को देती हैं! यह भेड़िये और मेमने की कहानी की तरह है—“तब फिर वह तुम्हारे दादा रहे होंगे जिन्होंने मेरे साथ दुर्व्यवहार किया!” अद्भुत बात तो यह है कि उस समय मन किसी भी चीज़ को स्वीकार कर लेता है! मुझे लगता है कि हो न हो, यह निम्न प्राण का भेड़िया हो या अपने किसी पिछले जनम में मैं भेड़िया रहा होऊँ और उसी की यह स्मृति हो!

हाँ, यह प्राण की कभी न तृप्त होने वाली माँग है और जब प्राण ऊपर उठ आता है तो तर्क को कोई स्थान नहीं मिलता। इस अतृप्त माँग के अनुभव के कारण ही माँ पीछे हट गयीं और उन्होंने अपने-आपको, यानी, अपने प्रेम को उदारता के साथ बाहर उँडेलना बन्द कर दिया, जैसा कि वे पहले किया करती थीं। जितना अधिक वे देती थीं उससे अधिक की हमेशा माँग की जाती थी और उतना अधिक लोग असन्तुष्ट रहते थे और तब हर एक दूसरे से ईर्ष्या करने लगा—जीवन असम्भव बनने लगा और निश्चित रूप से साधना में कोई लाभ नहीं हो रहा था! ३० जून १९३५

अचानक पूरी दोपहर तक शान्ति का एक झरना बहता रहा। लेकिन रात के भोजन के बाद ऊलजलूल विचार और यादें आनी शुरू हो गयीं, जिन्होंने न मुझे बेचैन बनाया न ही प्रसन्न—बीच-बीच में वे इतनी तीव्र थीं कि मुझे लगा कि मैं यहाँ हूँ ही नहीं। कुछ पढ़ने से मेरा मन ज़रा दूसरी दिशा में चला गया, लेकिन वे ही समान विचार बाद में लौट आये। मस्तिष्क में भी अत्यधिक थकान का संवेदन आ गया।

यह बारी-बारी से शान्ति और अवचेतना का खेल लग रहा है। अत्यधिक थकान बहुत अधिक अवचेतन (यान्त्रिक) मानसिक के द्वारा लाया गया तमस् हो—या आंशिक रूप से यह बुखार के बाद की थकान भी हो सकती है।

कल मैंने 'त' से सुना कि 'ह' का 'Windows' ('ह' के घर का नाम) में वापस आना पक्का नहीं है। उसने कहा कि 'ह' ने तिरुवन्नमलय आश्रम जाने की तैयारी कर ली है, 'स' भी निश्चित रूप से चली जा रही है और इसी के विद्रोह में वह भी चला जा रहा है। मैंने 'त' से पूछा, "उस विराट् ज्योति के बारे में क्या कहा जाये जो उस पर तब उतरी थी जब उसने कविता की ८० हज़ार से भी ज़्यादा पंक्तियाँ लिखी थीं—वह सब क्या रसातल में धँस कर बरबाद हो जायेगा?" फिर मैंने सोचा कि शायद कुछ दिनों के लिए वह घूमने जा रहा हो, क्योंकि वैसे ही वह बहुत सक्रिय स्वभाव वाला है। बाद में मैंने सुना कि अब वह शहर की फ्रेंच लड़कियों से काफ़ी मिलता-जुलता है। अगर यह सब सच है तो 'पु' की वह भविष्यवाणी कि जब 'ह' के प्राणिक स्तर पर क्रिया होनी आरम्भ होगी तब उसे गम्भीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, सच साबित होती प्रतीत हो रही है। इस साल दो और चले जायेंगे, और कौन जाने, इस रफ़्तार से न जाने और कितने चले जायें! यह दूसरी तरफ़ की विजय है।

जहाँ तक मुझे मालूम है, इन सब बातों का आधार बस यही है कि जब 'स' अपने परिवार से मिलने जायेगी उन दिनों में वह तिरुवन्नमलय आश्रम होकर आ जायेगा—'Windows' से हटने के पहले उसने उतने दिनों के लिए माँ की अनुमति पहले से ही ले ली थी। 'Windows' में उसके वापस आने की जहाँ तक बात है, इस बारे में अभी कुछ निश्चित नहीं हुआ है—यह माँ के निर्णय पर निर्भर करता है, लेकिन स्वाभाविक है कि अगर वह लौटा तब भी उस घर की मरम्मत के बाद ही वह उसमें रह पायेगा, यानी, अगले साल। जहाँ तक 'ह' की प्राणिक कठिनाइयों की बात है, उसमें वे हमेशा से रही हैं, यहाँ आने से पहले भी थीं, इसलिए इसमें मुझे पहले से देख लेने वाली 'पु' की भविष्यवाणी की शक्तियों में कुछ मेल बैठता नहीं दीख रहा। फ़िलहाल 'ह' खुद भी यहाँ से चले जाने का कोई इरादा नहीं दिखला रहा—भविष्य का निर्णय तो भविष्यवक्ता करते हैं, तो यह हम उन पर छोड़ दें।

स्त्रियों को स्पर्श करने का एक खतरा यह है कि दूसरे भी इसे करने लगेंगे। बहुत-से लोग यह करना शुरू कर देंगे और स्वाभाविक है कि इससे घपला पैदा हो जायेगा। दूसरे दृष्टिकोण से देखें तो सामान्य सभ्य समाज में यह एकदम साधारण चीज़ लगती है, हालाँकि वहाँ वह इतना शुद्ध इसलिए नहीं होता क्योंकि लोग मुक्त रूप से इसे करते हैं। फिर भी यह सम्भव है कि कोई किसी स्त्री को खुले आम छूने पर भी कामुक-संवेदना का रत्ती-भर अनुभव न करे, लेकिन जब स्पर्श छिप कर किया जाता है तो कामुकता हमेशा होती है, बहुत विरले ही इससे अछूते रहते हैं। मुझे पता है कि खुले आम स्पर्श भी व्यक्ति पर बाद में असर करेगा जब वह रात

को अकेला होगा।

सामान्य समाज में लोग-बाग एक-दूसरे का—समान तरीकों के अनुसार—न्यूनाधिक स्पर्श करते रहते हैं। यह एकदम से अलग मामला है, क्योंकि वहाँ अमुक मात्रा में, न्यूनाधिक विस्तृत या सीमित सीमाओं के अन्दर कामुक-आवेश की अनुमति दे दी जाती है, यहाँ तक कि गुप्त रूप से भोग भी सामान्य है, हालाँकि लोग इसे छिपाये रखते हैं। बंगाल में जब परदा था, स्त्रियों और पुरुषों का आपस में छूना बस परिवार तक सीमित रहता था, यूरोप में जब तक बहुत अधिक हेल्-मेल या अभद्रता न हों, तब तक इसमें बहुत अधिक रोक-थाम नहीं थी; लेकिन यूरोप में अब 'सेक्स' प्रायः खुले आम है। हमारे यहाँ, सभी सेक्स-उपभोग—भले वह आन्तरिक हो या बाहरी—अवाञ्छनीय और साधना में बाधक माना जाता है—पूरे-पक्के तौर पर वह है ही। इसी कारण पुरुषों और स्त्रियों के बीच बहुत अधिक घनिष्ठता-भरे स्पर्श से दूर रहना चाहिये, दुलारने-सहलाने से भी बचना चाहिये क्योंकि यह चीज़ कामुक-प्रवृत्ति को जगाती है, यहाँ तक कि प्रबल कामुक-आवेश को भी ले आती है। आकस्मिक स्पर्श से भी बचना चाहिये अगर वह वास्तव में कामुक-आवेग पैदा करे। अगर यहाँ प्रेम का आधार-वाक्य यह है कि किसी भी कामुक-सम्भोग की अनुमति नहीं दी जाती तो यह सब तो सामान्य बुद्धि की बातें और नियम हैं।

'च' मेरे बारे में क्या सोचती है या यह आशा रखना कि किसी दिन वह मेरे पास आयेगी—जैसी बातों को अब और बढ़ावा न देने और उसके प्रति अपने प्राणिक आकर्षण को रोकने के लिए मैंने उसे एक चिट्ठी लिखने की सोची। मुझे मालूम नहीं कि इसका परिणाम क्या होगा। यह उसे निश्चय ही थोड़ा नाराज़ या उदास कर देगी। तो आज सुबह मैंने उसे एक चिट्ठी लिख ही दी और उसमें यह लिखा कि वह इतनी आसानी से यह नहीं कह सकती कि उसकी अनुमति नहीं थी, या बस यह कह-भर देने से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उसका अनुमोदन नहीं था। प्रश्न यह था कि क्या उसने प्राणिक रूप से मुझे खींचा या नहीं, क्या जब मैं उसकी गोदी में लेटा तो वह विक्षुब्ध या नाराज़ हो गयी या उसने उसमें मज़ा लिया। मैंने ये सब बातें ज़रा कठोर स्वर में लिखीं ताकि इस तरह की बातचीत इत्यादि के लिए भविष्य में कोई दरवाज़ा खुला न रहे। लेकिन शायद मैं कुछ ज़्यादा ही प्रतिक्रिया कर बैठा।

तुम्हारी चिट्ठी 'च' की हालत का खुलासा कर रही है। निस्सन्देह उसका यह झूठा दिखावा कि वह कामना-वासना से एकदम मुक्त है, सच नहीं था और उसने इसे स्वीकार भी किया। लेकिन यहाँ स्त्रियों के अन्दर कामुक-शक्तियों को जगाना बहुत अधिक खतरनाक चीज़ है, ख़ास कर उन स्त्रियों में जो शिक्षित नहीं हैं या आन्तरिक रूप से (मूल में शब्द ठीक तरह पढ़ा नहीं जा रहा।) विकसित नहीं हैं और जिनके अन्दर कुछ सांसारिक ज्ञान है। अगर वे सच्ची (मूल में

शब्द ठीक तरह पढ़ा नहीं जा रहा।) हों तब तो यह बहुत अधिक बुरी चीज़ है! यहाँ बाहर की तरह नहीं है। यहाँ अदृश्य और गणनातीत शक्तियों की भिड़न्तें चलती रहती हैं और एक अविकसित मस्तिष्क और प्राण में सेक्स-जैसी खतरनाक चीज़ को भिड़ा देने पर तूफ़ान खड़े हो सकते हैं जिनका अन्त कहीं भी जाकर हो सकता है। मैं सचमुच यह आशा करता हूँ कि तुम्हारे और 'च' के बीच आगे से और कोई सम्पर्क न होगा। यह बहुत अधिक असुरक्षित है।

१ जुलाई १९३५

श्रीअरविन्द